हबीब मोहम्मद

बनाम

हैदराबाद राज्य

(पतंजलि शास्त्री सी. जे. मुखर्जी एस. आर. दास

गुलाम हसन और भगवती जे.)

भारत का संविधान 1950 का अनुच्छेद 13 व 14-हैदराबाद रेगुलेशन X of 1359 F के तहत 26 जनवरी 1950 के बाद विशेष न्यायाधीश द्वारा विचारण-रेगुलेशन के प्रावधान दण्ड प्रक्रिया संहिता के प्रावधानों से भिन्न न है–विधि के समक्ष समान संरक्षण–विचारण की वैधानिकता--- वैधानिकता का परीक्षण-- प्रतिबद्ध कार्यवाही में कटौती का प्रभाव और हस्तांतरण, पुर्नविचार तथा मौत की सजा की सम्पुष्टि का अधिकार।

संविधान-पूर्व के कानून की वैधानिकता या अन्यथा निर्धारित करने में इसके किसी भी प्रावधान के प्रतिकूल होने के आधार पर या संविधान द्वारा प्रदत्त विधि के समक्ष समान संरक्षण के आधार पर। इस संबंध में दो सिद्धांतों को ध्यान में रखना होगा। प्रथमत: यह कि इस खंड का कोई पूर्वलक्ष्यी प्रभाव नहीं है और चाहे कानून किसी भी अर्थ में भेदभावपूर्ण हो इसे पिछले सभी संव्यवहार और संविधान के लागू होने से पहले अर्जित अधिकारों और संव्यवहारों के प्रवर्तन के लिए मान्य माना जाना चाहिए।

दूसरा यह है कि अनुच्छेद 13 व 14 के लिय यह जरूरी नहीं है कि संविधान के आने के बाद भी सम्पूर्ण क़ानून को अमान्य कर दिया जाए। यह केवल उन प्रावधानों को अवैधानिक घोषित करता है जो संविधान के भाग तीन के तहत गारंटीकृत मौलिक अधिकारों के साथ असंगत हैं।

इसके अलावा यह तथ्य कि पहले के विनियमन के तहत 26 जनवरी 1950 के बाद भी विचारण जारी रखा गया था जो कुछ मामलों में भेदभावपूर्ण है आवश्यक रूप से बाद की कार्यवाही को अमान्य नहीं करेगा। अभियुक्त केवल इतना दावा कर सकता है कि विचारण में जो कुछ बाकी है वह सामान्य मानक से विचलित नहीं होना चाहिए। ताकि संविधान के अनुच्छेद 14 के अर्थ के अनुसार कानूनों के समान संरक्षण से इंकार नहीं किया जा सके। यह निर्धारित करने के उद्देश्य से कि क्या अभियुक्त इस तरह के संरक्षण से वंचित किया गया था न्यायालय को सर्वप्रथम यह देखना होगा कि क्या विनियमन में भेदभावपूर्ण प्रावधानों को अपास्त करने के बाद अभियुक्त के लिए अभी भी सामान्य कानून के तहत विचारण के लाभ को पर्याप्त रूप से सुरक्षित करना संभव था और यदि ऐसा है तो क्या वह वास्तव में विशेष मामले में किया गया था।

5 जनवरी 1950 को अभियुक्त जिसके विरूद्ध हत्या, आगजनी, और अन्य अपराधों के लिए विशेष न्यायाधिकरण के समक्ष लंबित थे जिसे कि हैदराबाद रेगुलेशन X of 1359 F के प्रावधानों के अनुसरण में एक

विशेष न्यायाधीश बना दिया गया जिसके द्वारा 1949 के विशेष न्यायाधिकरण विनियमन को समाप्त कर दिया था। नया संविधान लागू होने के बाद 11 फरवरी 1050 विचारण प्रारंभ हुआ और अभियुक्त को दोषसिद्ध ठहराया गया और अभियुक्त को मौत की सजा सुनाई गई। उच्च न्यायालय द्वारा उसकी अपील को खारिज कर दिया गया और अंतः उच्च न्यायालय द्वारा मौत की सजा की पुष्टि की गई। यह कहा गया था कि पूरा विचारण अवैध था क्योंकि जिस रेगुलेशन के तहत अभियुक्त पर मुकदमा चलाया गया था उसमें कई प्रावधान थे जो कि प्रावधान संविधान के समान संरक्षण खंड (अनुच्छेद 14) के विरुद्ध थे और 26 जनवरी 1950 के बाद अमान्य हो गया।

निर्धारित किया गया----(1) रेगुलेशन में कमीटल प्रक्रिया के प्रावधानों को हटा दिया गया तथा उसके साथ पर सेशन विचारण प्रक्रिया के लिए वारण्ट प्रक्रिया का प्रावधान किया गया है

छीन लिया गया और संशोधन का अधिकार केवल में छीन लिया गया गैर अपील योग्य वाक्यों का सम्मान।

(2) रेगुलेशन की धारा 8 के समुचित निर्वचन पर यह समक्ष आता है कि अभियुक्त के मामले को अंतरित कराने के लिए आवेदन के अधिकार को हटाया नहीं गया है तथा पुनर्विचार के अधिकार को भी केवल अप्रर्वतनीय दण्ड क संदर्भ में ही हटाया गया है।

(3) रेगुलेशन की धारा 8 जहां तक शून्य थी क्योंकि इसने दण्ड की सम्पुष्टि से संबंधित प्रावधानों को हटा दिया था लेकिन रेगुलेशन का यह भाग दण्ड की सम्पुष्टि से संबंधित हैदराबाद दंड प्रक्रिया संहिता के प्रावधानों शेष से अलग किया जा सकता था तथा पालन किया जा सकता है और उन प्रावधानों ने किसी भी तरह से रेगुलेशन में विचारण के लिए निर्धारित प्रावधानों को प्रभावित नहीं किया है।

(4) तथ्य यह है कि निजाम की सहमति प्राप्त नहीं की गई थी विचारण को दूषित नहीं करती क्योंकि इस तरह की सहमति केवल सजा के निष्पादन से पहले आवश्यक है।

यह भी अभिनिर्धारित किया गया कि मुख्य मंत्री के अतिकृत प्रतिनिधिमंडल एक सामान्य अधिसूचना द्वारा विशेष न्यायाधीश को विचारण के लिए मामले सौंपेंगे जिसमें जिलों के सभी नगर प्रशासकों को यह अधिकृत किया जाए कि वे अपने अधिकार क्षेत्र में मुख्यमंत्री की शक्तियों का प्रयोग करे धारा 5 बी अमान्य नहीं थी। धारा 5(बी के लिए भी आवश्यकत नहींहै कि प्रतिनिधि का नाम से उल्लेख किया जाना चाहिए।

कासिम रजवी का मामला (1953] एस. सी. आर. 589) लागू किया गया।

आपराधिक अपील क्षेत्राधिकार: अपराधीक अपील संख्या 43/1952

और याचिका संख्या 173/1952 दिनांक 11 मई 1951 को सर्वोच्च न्यायालय] द्वारा निर्णय और आदेश दिनांक 11 दिसम्बर 1950] जो कि हैदराबाद स्थित उच्च न्यायालय (मनोहर प्रसाद जे.) अपील की विशेष अनुमति दी गई। जो कि आपराधिक अपील संख्या 598 और याचिका जो कि संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत पारित किया गया था।

ए.ए. पीरभॉय (उनके साथ जे. बी. दादाचंजी) अपीलार्थी की ओर से।

वी. राजाराम अय्यर हैदराबाद की ओर से महाधिवक्ता। उनके साथ आर. गणपति अय्यर प्रत्यर्थी के लिए।

30 मार्च 1953. पतंजलि शास्त्री सी. जे. मुखर्जी एस. आर. दास और भगवती जे जे मुखर्जी जे. गुलाम हसन जे. का निर्णय मुखर्जी जे. गुलाम हसन जे. द्वारा एक अलग निर्णय दिया गया एक अलग लेकिन सहमत निर्णय दिया।

मुखर्जी जे. ---हमारे समक्ष अपीलार्थी जो वर्ष 1947 में हैदराबाद राज्य के वारंगल जिले में एक राजस्व अधिकारी थे। जिन्हें विचारण के लिए विशेष न्यायाधीश वारंगल के समक्ष लाया गया जो कि एगुलेशन x of 1359 F के तहत नियुक्त किया गया। जिस पर हत्या का प्रयत्न, आगजनी, दंगे, और हैदराबाद दण्ड संहिता में दण्डनीय कई अपराधों के तहत आरोप था। कथित तौर पर जो अपराध किया गया वह 9 दिसंबर 1947 को या उसके आसपास किया गया था जिसके बारे में प्रथम सूचना

इत्लिा काफी समय बाद 31 जनवरी 1949 को दर्ज कराई गई थी। 28 अगस्त्ता 1949 को जो कि विशेष न्यायाधिकरण विनियमन सं. V of 1358 की धारा 3 के संदर्भ में एक आदेश दिया गया था जो कि सस समय लागू था जिसके द्वारा अपीलार्थी को विशेष न्यायाधिकरण द्वारा विचारण करने का निर्देश दिया गया था। अभियुक्त जो कि लोक सेवक होने के नाते उसे अभियोजित करने के लिए सैन्य गवर्नर की अभियोजन स्वीकृति की आवश्यकता था जो कि उक्त स्वीकृति 20 सितम्बर 1949 को दी गई। 13 दिसम्बर 1949 को एक नया विनियमन जो कि विनियमन संख्या x of 1359 F हैदराबाद सरकार द्वारा पारित किया गया था जिसके द्वारा 16 दिसम्बर 1949 के तहत बनाए गए या उससे पिछले विनियमन के तहत बनाए गए विशेष न्यायाधिकरणों को समाप्त कर दिया गया और परिणामस्वरूप इस तरह की समाप्ति पर विशेष न्यायाधीशों की नियुक्ति शक्ति और प्रक्रिया का समर्थन किया गया। विनियमन की धारा 4 द्वारा मुख्यमंत्री को उच्च न्यायालय परामर्श के बाद धारा 5 के प्रयोजन के लिए समय-समय पर जितने विशेष न्यायाधीशों की आवश्यकता हो नियुक्त करने के लिए अधिकृत किया गया।

धारा 5 में प्रावधानित किया गया है कि प्रत्येक विशेष न्यायाधीश कोशिश करें--

(क) ऐसे अपराध जिनका विचारण 16 दिसम्बर 1949 से पूर्व एक

विशेष न्यायाधिकरण के समक्ष लंबित था उसे उस तारीख को भंग माना जाता है तथा इस संबंध में मुख्यमंत्री द्वारा या मुख्यमंत्री द्वारा अधिकृत व्यक्ति द्वारा विचारण के लिए उसे सौंपा जाता है।

(ख) ऐसे अपराध जो इस विनियमन की शुरुआत के बाद विचारण के लिए इस संबंध में मुख्यमंत्री या उसके द्वारा प्राधिकृत व्यक्ति द्वारा उसे सौंपे गए हैं।

5 जनवरी 1950 को अपीलार्थी के खिलाफ मामला वारंगल के एक विशेष न्यायाधीश डॉ. लक्ष्मण राव को सौंपा गया था जिन्हें सिविल एडमिनिस्ट्रेटर वारंगल के एक आदेश के तहत उपरोक्त विनियमन के तहत नियुक्त किया गया था जिन्हें विनियमन की धारा 5 के तहत अधिकार मुख्य मंत्री द्वारा प्रत्यायोजित किया गया था और उसी तारीख को विशेष न्यायाधीश द्वारा अपराधों का प्रसंज्ञान लिया गया। विचारण 11 फरवरी 1950 को पूर्ण हुआ और कुल मिलाकर अभियोजन पक्ष की ओर से 21 गवाहान परिक्षीत करवाए गए और एक गवाह बचाव पक्ष की ओर से परिक्षीत करवाया गया। विशेष न्यायाधीश अपने निर्णय दिनांक 8 मई 1950 में अपीलार्थी को उन सभी अपराधों के लिए दोषी ठहराया गया था जिनके लिए उस पर आरोप लगाया गया था और उसे हैदराबाद दंड संहिता की धारा 243 (भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के समान है) तहत मौत की सजा सुनाई और हैदराबाद दण्ड संहिता की धारा 248 368 282 और

124 (जो कि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 307, 436, 342, और 148 के समान है) के तहत कारावास की विभिन्न काल की सजा सुनाई। इस फैसले के खिलाफ अपीलार्थी ने हैदराबाद उच्च न्यायालय में एक अपील दायर की और उक्त अपील पहली सुनवाई श्रीपत राव और एस. अली खान जे. जे. की एक खंड पीठ ने की थी। 29 सितम्बर 1950 को विद्वान न्यायाधीशों ने अलग-अलग निर्णय दिए। न्यायमूर्ति श्रीपत राव ने यह विचार रखते हुए कि कहा कि अपील खारिज की जानी चाहिए जबकि दूसरे विद्वान न्यायाधीश ने राय व्यक्त की कि अपील की अनुमति दी जानी चाहिए और आरोपी को दोषमुक्त कर दिया जाना चाहिए। इसके बाद मामले को तीसरे न्यायाधीश के रूप में न्यायमूर्ति मनोहर प्रसाद के पास निर्देशित किया गया और 11 दिसम्बर 1950 को अपने फैसले से विद्वान न्यायाधीश ने न्यायमूर्ति श्रीपत राव की राय से सहमति व्यक्त की और विशेष न्यायाधीश द्वारा पारित दोषसिद्धि और सजा को बरकरार रखते हुए अपील को खारिज कर दिया। अपीलार्थी ने तब एक आवेदन इस न्यायालय में अपील करने की अनुमति के लिए पेश किया। उस आवेदन को हैदराबाद उच्च न्यायालय ने खारिज कर दिया था लेकिन इस अदालत द्वारा 11 मई 1951 को अपील करने के लिए विशेष अनुमति दी गई थी और इस विशेष अनुमति के आधार पर ही हमारे सामने अपील आई है। अपील की वर्तमान सुनवाई कुछ संवैधानिक बिंदुओं तक ही सीमित है जो अपीलार्थी द्वारा पूरे विचारण की वैधता चुनौती देते हुए उठाए गए हैं

जिसके परिणामस्वरूप उन्हें इस आधार पर दोषी ठहराया गया कि रेगुलेशन एक्स 1359 एफ निर्धारित विचारण की प्रक्रिया 26 जनवरी 1950 के बाद शून्य हो गई है तथा संविधान के अनुच्छेद 14 में सन्निहित समान संरक्षण खंड के साथ टकराव के कारण यह अमान्य हो गया। इन आधारों पर संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत एक अलग याचिका दायर की गई और कासिम रजवी केस संख्या 267/1951 के मामले में अपनाई गई प्रक्रिया को अपनाया गया।

हमने अपील की दलीलों को पहले संवैधानिक प्रश्नोंं पर प्रारम्भिक बिन्दूओंं के रूप में सुनने का फैसला किया कि क्या अपील को आगे सुना जाए या नहीं यह प्रारम्भिक सुनवाई के निर्णय पर निर्भर करेगा।

अपीलार्थी की ओर से उपस्थित श्री पीरभोय ने सारभूत रूप से यह कहा कि जो प्रक्रिया विचारण के लिए रेगुलेशन संख्या x of 1359 F द्वारा विहित की गई थी वह काफी हद तक सामान्य प्रक्रिया से भटकाने वाली थी और अभियुक्त को सारभूत लाभ से वंचित किया गया जिसके लिए अन्यथा वह हकदार होता यदि रेगुलेशन उक्त 26 जनवरी 1950 के संविधान के अनुच्छेद 13(1) के तहत शून्य हो गया होता। उक्त प्रक्रिया को अपनाए जाने से जो परिणाम दोषसिद्धि और दण्डादेश आया वह अवैध और निष्प्रभावी होना चाहिए और विशेष न्यायाधीश के साथ-साथ उच्च न्यायालय का निर्णय भी निरस्त कर दिया जाना चाहिए। विद्वान

अधिवक्ता द्वारा उठाया गया दूसरा मुद्दा यह था कि रेगुलेशन की धारा 5 द्वारा विहित तरीके से मुख्य मंत्री द्वारा प्राधिकार सिविल प्रशासक द्वारा विशेष न्यायाधीश को अपील के मामले को नहीं सौंपना अवैध था।

जहाँ तक पहले बिंदु का संबंध है यह ध्यान देने योग्य है प्रश्नगत रेगुलेशन संविधान पूर्व का कानून है। इस प्रकार के कानूनों की संवैधानिकता के प्रश्न को तय करने में कि क्या उसका कोई प्रावधान समान संरक्षक के प्रावधान के प्रतिकुल है इस संबंध में हमारे मस्तिष्क में दो सिद्धांत उत्पन्न होते है जिन्हें कि कासिम रजवी बनाम हैदराबाद राज्य के मामले में जो कि दिनांक 19 जनवरी 1953 को इस न्यायालय द्वारा बहुमत से पारित किया गया था। जहॉ पर पूर्व के निर्णय लक्ष्मणदास केवलराम बनाम बाम्बेे राज्य 1952 एससीआर 710 पर चर्चा की गई और उसे समझाया गया। प्रथमत: यहकि संविधान का कोई पूर्वव्यापी प्रभाव नहीं है और भले ही कोई भी कानून किसी भी मायने में भेदभावपूर्ण है तब उसे किसी भी पूर्व संव्यवहार के संदर्भ में शून्य घोषित किया जाना चाहिए और संविधान लागू होने के बाद उत्पन्न अधिकारों व दायित्व को लागू करना चाहिए। दूसरा यह कि संविधान का अनुच्छेद 13(1) आवश्यक रूप से संविधान के लागू होने के बाद भी सम्पूर्ण क़ानून को अमान्य नहीं बनाता है। यह केवल उन प्रावधानों को अमान्य करता है जो कि संविधान के भाग 3 के तहत गारंटीकृत मौलिक अधिकारों के संदर्भ में असंगत हैं।

कानून केवल उस तरह की विसंगति तक ही अमान्य हो जाता है लेकिन अन्यथा वैध और प्रभावी रहता है। जैसा कि कासिम रजवी के मामले में कहा गया था। यह तथ्य कि विचारण उसी विनियमन के तहत 26 जनवरी 1959 के बाद भी जारी था जो बाद की कार्यवाही को जानबूझकर अमान्य नहीं करेगा। अभियुक्त केवल इतना दावा कर सकता है कि विचारण में जो कुछ बचा है वह भौतिक मामलों में सामान्य मानक से विचलित नहीं होना चाहिए ताकि संविधान के अनुच्छेद 14 के अर्थ के अनुसार कानून के समान संरक्षण से इनकार नहीं किया जा सके। इस उद्देश्य से कि यह तय करने के लिए क्या अभियुक्त को इस तरह की सुरक्षा से वंचित किया गया था हमें सबसे पहले यह देखना होगा कि क्या विनियमन के भेदभावपूर्ण प्रावधानों को समाप्त करने बाद भी यह संभव था कि सामान्य विधि के तहत अभियुक्त के सारभूत लाभ को सुरक्षित रखा जा सकता था। और यदि ऐसा है तो क्या वह वास्तव में विशेष मामले में ऐसा किया गया।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है विशेष न्यायाधीश द्वारा 5 जनवरी 1950 को इस मामले का संज्ञान लिया था जो कि संविधान के लागू होने से पहले था। यह कहना चाहिए कि यह मामला कानूनी विशेष न्यायाधीश द्वारा विधिक रूप से जब्त कर लिया गया था और यह कहना संभव नहीं है विशेष न्यायाधीश की नियुक्ति स्वयं कानून की नजर में एक असमानता थी। मुकदमे की सुनवाई निस्संदेह 11 फरवरी 1950 से प्रारंभ

हुई अर्थात् संविधान के लागू होने के बाद यह सुनवाई प्रारंभ हुई थी और विचार करने योग्य प्रश्न यह है कि क्या वास्तव में विशेष न्यायाधीश द्वारा जो प्रक्रिया विनियमन के तहत थी उसका पालन करते हुए कार्य किया गया और विवादित विनियमन के तहत अभियुक्त को सामान्य विचारण का सार दिया गया था दूसरे शब्दोंं में कहें तो क्या उसे प्रक्रिया के मामले में उचित मात्रा में समानता दी गई थी।

श्री पीरभॉय विवादित विनियमन में प्रावधानों के दो समूहों पर जोर देते हैं जो उनके अनुसार सामान्य विधि के तहत निर्धारित प्रक्रिया को उससे अलग करते हैं। पहला समुह अपराधों के विचारण में सत्र विचारण के लिए कमीट की कार्यवाही के उन्मूलन से संबधित है और अपराध के विचारण के लिए वारंट प्रक्रिया के प्रतिस्थापन से संबंधित है। प्रावधानों के अन्य समूह में वे प्रावधान शामिल हैं जो अभियुक्त को पुनर्विचार और स्थानांतरण के अधिकारों से वंचित करते हैं और उससे दण्ड की संपुष्ठि से संबंधित सुरक्षा उपाय भी वापस लेते हैं। हमारी राय में विवाद की पहली शाखा कासिम रजवी के मामले में हमारे निर्णय को ध्यान में रखते हुए अस्थिर है। यह इंगित किया गया था कि उस मामले में कि हैदराबाद आपराधिक दण्ड प्रक्रिया संहिता के तहत कमीटक प्रक्रिया सत्र विचारण के लिए एक अनिवार्य प्रारंभिक कार्यवाही नहीं है। हैदराबाद दंड प्रक्रिया की धारा 267 के अनुसार मजिस्ट्रेट या तो कोई साक्ष्य दर्ज किए बिना या

साक्ष्य का केवल एक हिस्सा दर्ज करने के बाद सत्र न्यायालय द्वारा विचारण के लिए एक अभियुक्त को कमिट करने के लिए सक्षम है यदि उसकी राय में इस तरह के कमिटल के लिए पर्याप्त आधार हैं। संविधान के लागू होने के पहले अगर कमिटल कार्यवाही को अनिवार्य नहीं होने के कारण छोड दिया गया है और ऐसा न करने के कारण विशेष न्यायाधीश के मामले का संज्ञान लेने के अधिकार क्षेत्र को कम नहीं करती थी। विवादित विनियमन द्वारा निर्धारित वारंट प्रक्रिया के बीच का अंतर जिसका पालन इस तरह के संज्ञान के बाद विशेष न्यायाधीश द्वारा किया जाना है और इस स्तर पर सामान्य कानून के तहत लागू सत्र विचारण की प्रक्रिया बिल्कुल भी सारभूत नहीं है और मामूली मतभेद मामले को संविधान के अनुच्छेद 14 के दायरे में नहीं लाएंगे। यह प्रश्न कासिम रजवी में पहले से ही निर्णय लिया जा चुका है। यह इस प्रकरण में आगे की दलीलों के लिए अनुज्ञात नहीं है।

प्रावधानों के अन्य समूह के संबंध में श्री पीरभॉय का तर्क पूरी तरह से विनियमन की धारा 8 की भाषा पर आधारित है। हमारी राय में विद्वान वकील इस खंड पर जो व्याख्या करना चाहते हैं वह बिल्कुल सही नहीं है और यह हमें लगता है कि न केवल अभियुक्त द्वारा अपने मामले के हस्तांतरण के लिए आवेदन करने के अधिकार को इस धारा द्वारा नहीं लिया गया है लेकिन संशोधन के अधिकार को भी कुछ हद तक छोड़कर

अप्रभावित छोड़ दिया गया है।

रेगुलेशन संख्या x of 1359 F की धारा 8 का प्रावधान है---

"उक्त विनियमन की धारा 7 के सभी प्रावधान एक विशेष न्यायाधीश द्वारा पारित सजाओं के संबंध में कानून का प्रभाव होगा जैसे कि उक्त विनियमन में प्रत्येक संदर्भ में एक विशेष न्यायाधिकरण के लिए एक विशेष न्यायाधीश का संदर्भ शामिल है।

जो उक्त विनियमन अभिव्यक्ति का अर्थ है और संदर्भित रेगुलेशन संख्या x of 1359 F को करता है तथा उक्त विनियमन की धारा 7 जैसा कि यहाँ पहले प्रावधान किया गया है किसी विशेष न्यायाधिकरण द्वारा पारित किसी आदेश या सजा के खिलाफ कोई अपील नहीं की जाएगी और किसी भी अदालत को ऐसे आदेश को संशोधित करने का अधिकार नहीं होगा या विशेष न्यायाधिकरण के समक्ष किसी कार्यवाही के संबंध में सजा या किसी मामले को विशेष न्यायाधिकरण से स्थानांतरित करने का या किसी भी प्रकार का कोई अधिकार क्षेत्र है और विशेष न्यायाधिकरण का कोई भी दंड किसी भी प्राधिकरण के अधीन या पुष्टि के लिए प्रस्तुत नहीं किया जाएगा। यह ध्यान दिया जाएगा कि विवादित विनियमन की धारा 8 में पिछले विनियमन की पूरी धारा 7 को नहीं बल्कि इसके केवल ऐसे हिस्से को शामिल किया गया है। यह विशेष न्यायाधीश द्वारा पारित दंडादेशों से संबंधित है। सजा का अर्थ स्पष्ट रूप से आपराधिक न्यायालय

की अंतिम या निश्चित घोषणा है जो एक आदेश अन्तवर्तिय आदेश या अन्यथा होती है। जहां किसी भी सजा को लागू करने का कोई सवाल शामिल नहीं है। इस प्रकार पूर्ववर्ती विनियम की धारा 7 का दायरा वर्तमान धारा 8 की तुलना में बहुत व्यापक है और पूर्ववर्ती कानून की सभी सीमाओं को वर्तमान विधि में दोहराया नहीं गया है। परिणामस्वरूप किसी भी आदेश के खिलाफ पुनर्विचार जो एक वाक्य में समाप्त नहीं हुआ है ना ही वर्तमान विनियमन द्वारा स्थानांतरण के लिए आवेदन करने का अधिकार को बाधित किया गया है। इन अधिकारों को वर्तमान विनियमन की धारा 10 द्वारा स्पष्ट रूप से संरक्षित किया गया है। जो कि आपराधिक प्रक्रिया संहिता को विनियमन द्वारा अन्यथा निर्धारित किया गया है को छोडकर सभी मामलों में लागू होगा। वर्तमान विनियमन की धारा 8 को यदि पूर्ववर्ती की धारा 7 के साथ पढा जाए तब यह अभिनिर्धारित किया जा सकता है कि किसी अभियुक्त से जो छीन लिया गया है वह यह है कि सबसे पहले गैर-अपील योग्य दंडादेशों के विरुद्ध पुनरीक्षण और दूसरा यह कि दंडादेशों की पुष्टि से संबंधित प्रावधान। पहला हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए महत्वहीन है क्योंकि किसी भी गैर-अपील का कोई सवाल ही नहीं है। दूसरा हमारे सामने मामले में निस्संदेह एक भेदभावपूर्ण विशेषता है और स्वाभाविक रूप से श्री पीरभॉय ने इस पर काफी जोर दिया है।

हैदराबाद दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 20 द्वारा दण्ड की सम्पुष्टि से संबंधित नियम निम्नलिखित प्रकार से निर्धारित करती है---

सत्र न्यायाधीश विधि द्वारा प्राधिकृत कोई भी सजा सुना सकते हैं। लेकिन ऐसी सजा तब तक प्रभावी नहीं होगी जब तक कि

(1) 10 वर्ष या उससे अधिक की सजा के मामले में उच्च न्यायालय की उपयुक्त पीठ

(2) आजीवन कारावास के मामले में सरकार और

(3) मृत्युदण्ड के मामले में एच. ई. एच. दी निजाम की उस पर सहमति दे दी होगी। धारा 302 में प्रावधान है कि जब कोई सत्र न्यायालय द्वारा मृत्युदण्ड या आजीवन कारावास 10 वर्ष तक के कारावास की सजा सुनाती है तब मामले की फाईल को उच्च न्यायालय प्रेषित कर दिया जाएगा तथा सजा के निष्पादन पर तब तक रोक लगा दी जाएगी जब तक कि धारा 20 के अनुसार मंजूरी नहीं दे दी जाती। धारा 307 में यह भी प्रावधान है कि जब उच्च न्यायालय द्वारा मृत्युदंड या आजीवन कारावास की सजा की सम्पुष्टि कर दी जाती है तब तो उस मामले में उसकी राय के साथ फाइल को एक सप्ताह के भीतर सरकार को अनुसमर्थन के लिए भेजा जाएगा और सजा तब तक प्रभावी नहीं होगी जब तक कि मृत्युदंड के मामले में महामहिम निजाम और आजीवन कारावास के मामले में सरकार की सहमति नहीं मिल जाती।

श्री पीरभॉय की यह शिकायत है कि उनके मुवक्किल को इस मामले में दी गई सजा की न तो उच्च न्यायालय द्वारा सम्पुष्टि की गई है और न ही महामहिम निजाम द्वारा सम्पुष्टि की गई है। उनका कहना है कि यह एक ऐसा भेदभाव है जिसने उनके मुवक्किल को गंभीर रूप से पूर्वाग्रहित किया है और सजा को पूरी तरह से अपास्त करने के लिए एक आधार प्रदान करता है।

यह स्वीकृत है कि रेगुलेशन संख्या x of 1359 F की धारा 8 को संविधान के अनुच्छेद 13(1) और 14 के तहत इस हद तक अमान्य माना जाना चाहिए कि यह हैदराबाद दण्ड प्रक्रिया संहिा में विहित सजा की सम्पुष्टि से संबंधित प्रावधान को हटा देता है। हालाँकि यह धारा का एक अलग करने योग्य हिस्सा है और अमान्य होने के कारण सजा की सम्पुष्टि के संबंध में हैदराबाद आपराधिक प्रक्रिया संहिता के प्रावधानों का पालन किया जाना चाहिए। हालाँकि वे प्रावधान किसी भी तरह से विनियमन में निर्धारित विचारण की प्रक्रिया को प्रभावित नहीं करते हैं। हैदराबाद दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 20 में केवल इतना ही कहा गया है कि विशेष विवरण के वाक्यों को तब तक निष्पादित नहीं किया जाना चाहिए जब तक कि कुछ अधिकारियों की सहमति प्राप्त न हो जाए। इसलिए जब यह धारा अमल में आती है तो उचित स्तर पर सजा के निष्पादन का स्तर होता है। पुष्टि से संबंधित प्रावधान को वापस लेने के कारण अभियुक्त का विचारण

या दोषसिद्धि किसी भी तरह से प्रभावित नहीं होती है। वापस लेना निश्चित रूप से निष्क्रिय है और इस तरह की वापसी के बावजूद भी अभियुक्त सामान्य कानून के तहत प्रदान किए गए अधिकारों पर जोर दे सकता है।

हमारे समक्ष मामले में अभिलेखों से पता चलता है कि हैदराबाद दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 307 (जो भारतीय दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 374 के अनुरूप है) द्वारा अनुध्यात तरीके से मृत्युदण्ड की सजा देने के बाद विशेष न्यायाधीश द्वारा इस संदर्भ में कोई निर्देश नहीं दिया गया था। हॉलाकि अपीलार्थी अभियुक्त द्वारा एक अपील दायर की गई थी और मामले की पूरी फाइल उस संबंध में उच्च न्यायालय के समक्ष आई थी। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है अपील की सुनवाई करने वाली खंड पीठ अपनी राम में विभाजित थी और परिणामस्वरूप उस पीठ के समक्ष मौत की सजा की सम्पुष्टि का कोई सवाल नहीं उठ सकता था या नहीं उठा सकता था। हालाँकि सवाल विशेष रूप से यह था कि तीसरे न्यायाधीश जिनके पास इस भेजा गया था के समक्ष दलीलों के माध्यम से उठाया गया और यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि उससे कुछ समय पहले हैदराबाद उच्च न्यायालय की एक पूर्ण पीठ ने निर्णय लिया था कि सजा की समाप्ति से संबंधित विनियमन में प्रावधान अमान्य और निष्क्रिय थे और उक्त प्रावधान के बावजूद सजा की सम्पुष्टि सामान्य कानून के

अनुसार की जानी चाहिए थी। तब सवाल उठाया गया कि क्या सम्पुष्टि अकेले तीसरे न्यायाधीश द्वारा की जानी थी या यह उन दो न्यायाधीशों द्वारा की जानी थी जो अपील को खारिज करने के लिए सहमत हुए थे। न्यायमूर्ति श्री मनोहर प्रसाद ने फैसला किया कि चूंकि पूरा मामला उनके लिए संदर्भित था इसलिए वे अकेले ही मृत्युदण्ड की सम्पुष्टि के लिए आदेश देने में सक्षम थे और उन्होंने वास्तव में अपनी खुद की लिखित में इसकी पुष्टि की कि हैदराबाद दण्ड प्रक्रिया संहिता में निर्धारित प्रावधान के अनुसार मृत्युदंड की सजा देने का आदेश दें।

श्री पीरभॉय का तर्क है कि यह पुष्टि अवैध थी और पूरी तरह से अमान्य थी क्योंकि यह हैदराबाद दण्ड प्रक्रिया संहिता के प्रावधानों के अनुरूप नहीं की गई थी। हम इस पर कोई राय व्यक्त नहीं करना चाहते हैं। वर्तमान समय में अभिलेख के अवलोकन से उच्च न्यायालय के न्यायाधीश द्वारा दी गई मौत की सजा की पुष्टि के लिए एक आदेश दिखाई देता है। यदि यह आदेश कानून के प्रावधानों के अनुरूप नहीं है तो इस अदालत के समक्ष सवाल उठाया जा सकता है जब अपील उसके गुण-दोष पर सुनवाई के लिए आती है। हालाँकि यह ऐसा मामला नहीं है जो उस संवैधानिक प्रश्न को प्रभावित करता है जिससे केवल हम वर्तमान स्तर पर संबंधित हैं।

हैदराबाद दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 20 के तहत जब तक

महामहिम निजाम की सहमति प्राप्त नहीं हो जाती तब तक मौत की सजा का निष्पादन नहीं किया जा सकता था। श्री पीरभॉय इंगित करते हैं कि वर्तमान मामले में ऐसा नहीं किया गया है।

इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि सजा के निष्पादन से पहले ही महामहिम निजाम की सहमति आवश्यक है और यह स्पष्ट है कि वह इस मामले में अभी तक नहीं हुआ है।

इस मामले का अंतिम निर्णय उच्च न्यायालय द्वारा 11 दिसम्बर 1950 को पारित किया गया था। उस तारीख के तुरंत बाद अभियुक्त द्वारा अपील करने की अनुमति के लिए एक आवेदन प्रस्तुत किया गया था और इस आवेदन को 2 जनवरी 1950 को खारिज कर दिया गया। 5 फरवरी 1951 को इस अदालत में विशेष अनुमति के लिए एक आवेदन किया गया था और मृत्युदण्ड की सजा के निष्पादन पर रोक लगा दी गई थी। इस अवधि के दौरान स्वयं उच्च न्यायालय के आदेशों के तहत और इस अदालत द्वारा 11 मई 1951 को विशेष अनुमति दी गई थी और तब से हमारे आदेशों के तहत मौत की सजा को लागू करने पर अपील का निपटरा होने तक रोक लगा दी गई है। यह सवाल कि क्या महामहिम निजाम द्वारा कोई और पुष्टि आवश्यक है केवल तभी उत्पन्न हो सकता है जब अधिनस्थ अदालतों द्वारा पारित मौत की सजा को इस अदालत द्वारा बरकरार रखा जाता है। श्री पीरभॉय बताते हैं कि 1 अप्रेल 1951 से

हैदराबाद राज्य में भारतीय दंड प्रक्रिया संहिता लागू की गई है और निज़ाम के पास अब मृत्यु दण्ड की सम्पुष्टि करने की कोई शक्ति नहीं है हालाँकि इस तरह की पुष्टि उस समय आवश्यक थी जब विशेष न्यायाधीश के साथ-साथ अपील पर उच्च न्यायालय द्वारा भी सजा सुनाई गई थी। हम नहीं समझते कि वर्तमान स्तर पर हमारे लिए कानून के इस परिवर्तन के प्रभाव पर चर्चा करना बिल्कुल भी आवश्यक है। यदि इस पर निजाम की मृत्युदंड पर सहमति एक प्रक्रिया है यह तर्क दिया जा सकता है कि वर्तमान समय में लागू होने वाला प्रक्रियात्क कानून ही उचित कानून है। दूसरी ओर यदि यह मूल अधिकार का प्रश्न था तो यह तर्क देने के लिए खुला हो सकता है कि वह कानून जो समान रूप से शासित होता है विचारण शुरू होने की तारीख पर अभी भी लागू हो सकते हैं। हालाँकि हमें व्यक्त करने के लिए नहीं कहा जाता है और इस मुद्दे पर कोई भी राय बारे में भी कोई राय व्यक्त नहीं करते हैं कि क्या हैदराबाद आपराधिक प्रक्रिया संहिता की धारा 20 के तहत निजाम द्वारा जिन अधिकारों का प्रयोग किया जा सकता है वे उनके विशेषाधिकार के अनुरूप थी। एक संप्रभु के रूप में या कानून में निर्दिष्ट व्यक्ति द्वारा प्रयोग किए जाने वाले वैधानिक अधिकार थे। इन मामलों पर तब ही विचार किया जा सकता है जब अपील पर अंतिम सुनवाई की जाती है। हमारा निष्कर्ष यह है कि प्रक्रिया के मामलों में कोई भेदभाव नहीं किया गया है जिसके आधार पर कहा जा सकता हो कि उसने अभियुक्त के खिलाफ विचारण को प्रतिकूल

रूप से प्रभावित किया है और अभियुक्त अपनी दोषसिद्धि और सजा को इस आधार पर अपास्त करान का हकदार नहीं है।

एक अन्य प्रश्न अपीलार्थी द्वारा विशेष न्यायाधीश द्वारा विचारण के लिए मामलों को सोंपने से संबंधित उठाया गया। श्री पीरभॉय ने विनियमन की धारा 5 पर जोर दिया है जो अपराध किए जाने की बात करती है जो कि मुख्यमंत्री या इस संबंध में मुख्यमंत्री द्वारा अधिकृत व्यक्ति द्वारा प्रमुख द्वारा मुकदमे के लिए विशेष न्यायाधीश को सौंपा गया और यह तर्क दिया जाता है कि यह अनुभाग के लिए आवश्यक है कि प्रतिनिधि का नाम उल्लिखित किया जाए। मुख्यमंत्री ने जो किया है वह यह है कि उन्होंने सभी सिविल प्रशासकों को अधिकृत करने के लिए एक अधिसूचना जारी की है जिलों के प्रशासकों को उक्त धारा के तहत अपने विशिष्ट अधिकार क्षेत्र के भीतर मुख्यमंत्री की शक्तियों का प्रयोग करना होगा। यह तर्क दिया जाता है कि यह धारा के प्रावधानों के अनुपालन में नहीं है। हमें नहीं लगता कि इस विवाद में कोई सार है। प्रतिनिधि को निश्चित रूप से उसके आधिकारिक पदनाम के संदर्भ में वर्णित किया जा सकता है और प्राधिकरण कुछ समय के लिए किसी विशेष पद के धारक में निहित हो सकता है। हम समझते हैं कि यह मुख्यमंत्री द्वारा प्रयोग की जाने वाली शक्तियों को सौंपने का एक उचित और सुविधाजनक तरीका है। हमारी राय में श्री पीरभॉय द्वारा उठाए गए संवैधानिक मुद्दे विफल हैं। इस प्रकार

संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत आवेदन को खारिज कर दिया जाता है और मामले को उसके गुण-दोष के आधार पर सुनवाई के लिए सामान्य अनुक्रम में प्रेषित करने का निर्देश दिया जाता है।

जे. गुलाम हसन- मैं अपने विद्वान भाई श्री न्यायमूर्ति मुखर्जी द्वारा प्रस्तावित आदेश से सहमत हूं कि संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत याचिका को खारिज कर दिया जाए लेकिन मैं कासिम रजवी के मामले में अपने असहमत निर्णय को देखते हुए कुछ अवलोकन करना आवश्यक समझता हूं। न्यायमूर्ति मुखर्जी द्वारा 19 जनवरी 1953 को दिया गया कासिम रजवी का निर्णय बहुमत का निर्णय था। लक्ष्मणदास केवलराम आहूजा बनाम में निर्णय की व्याख्या करते यह सिद्धांत निर्धारित किया कि केवल यह तथ्य कि विवादित विनियमन के कुछ प्रावधान भेदभावपूर्ण है इसके बावजूद यह पर्याप्त नहीं है कि विचारण को अमान्य और दोषसिद्धि को संविधान के अनुच्छेद 14 सपठित संविधान के अनुच्छेद 13(1) के साथ पढ़ा जाता है और ऐसे मामलों में जहां विचारण 26 जनवरी 1950 के बाद भी विवादित विनियमन के तहत चलाया जाता है तब यह देखना आवश्यक है कि क्या उक्त तिथि के बाद अपनाई गई प्रक्रिया ऐसी थी कि अभियुक्त को संविधान के अनुच्छेद 14 के अर्थ के भीतर समान संरक्षण से वंचित किया गया था और यह कि यदि ऐसी प्रक्रिया के तहत अभियुक्त को सामान्य कानून के तहत विचारण का पर्याप्त लाभ मिलता

है तो विचारण और दोषसिद्धि को शून्य और अवैध नहीं माना जा सकता है। मेरा मानना है कि बहुमत का निर्णय बाध्यकारी है और बहुमत द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत अब सवाल के लिए खुला नहीं है। इस प्रारंभिक अवलोकन के साथ मुझे अपने विद्वान भाई श्री न्यायमूर्ति मुखर्जी द्वारा वर्तमान में लिए गए दृष्टिकोण के साथ आम तौर पर अपनी सहमति व्यक्त करने के लिए आगे बढ़ना चाहिए।

यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि रेगुलेशन संख्या x of 1359 F जिसके तहत कासिम रजवी के मामले की सुनवाई के लिए न्यायाधिकरण का गठन किया गया था वह सारभूत रूप से रेगुलेशन संख्या x of 1359 F से अलग था जिसके तहत विशेष न्यायाधीश ने याचिकाकर्ता हबीब मोहम्मद का विचारण किया था। मेरे विद्वान भाई की इस धारणा से सहमत हूं कि याचिकाकर्ता के मामले को विनियमन की धारा 5(बी) के तहत विशेष न्यायाधीश के समक्ष सुनवाई के लिए रखने में कोई त्रुटि नहीं थी। संविधान लागू होने से पहले विशेष न्यायाधीश ने मामले का संज्ञान लिया लेकिन कासिम रजवी के मामले के विपरीत अभियोजन पक्ष की सम्पूर्ण साक्ष्य 26 जनवरी 1950 के बाद दर्ज किया गया था। विवादित विनियमन को संविधान के अनुच्छेद 14 सपठित अनुच्छेद 13(1) के तहत अमान्य होने के रूप में हमारे सामने निम्नलिखित आधारों पर चुनौती दी गई---

(1) यह कि विनियमन कमिटल कार्यवाही को बाहर करता है

(2) यह कि सत्र विचारण की प्रक्रिया है को वारंट प्रक्रिया द्वारा प्रतिस्थापित किया गया था

(3) यहकि स्थानांतरण का कोई अधिकार नहीं है

(4) यहकि कोई पुनर्विचार नहीं है

(5) यहकि मृत्युदंड के मामले में निजाम द्वारा सम्पुष्टि के अधिकार को नकार दिया गया है।

जहां तक पहले दो आधारों का संबंध है न्यायमूर्ति महोदय मुखर्जी ने कासिम रजवी के मामले में लिए गए दृष्टिकोण का पालन करते हुए कहा है कि धारा 267ए के तहत हैदराबाद आपराधिक प्रक्रिया संहिता के तहत कमिटल कार्यवाही अनिवार्य नहीं हैं और यह कि सत्र विचारण और वारण्ट प्रक्रिया के बीच कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं है जिसका याचिकाकर्ता के मामले में पालन किया गया था। यहॉ चुनौती के ये दो आधार समाप्तीं हो जाते हैं। जहाँ तक आधार संख्या 3 तथा 4 का प्रश्न है मैं श्री न्यायमूर्ति मुखर्जी के उनके कथन से सहमत हूं। विनियमन की धारा 8 की व्याख्या और उसके द्वारा लिए गए इस विचार के साथ सहमति है कि हस्तांतरण के लिए आवेदन करने का अधिकार नहीं लिया गया है और पुनर्विचार के अधिकार से केवल इनकार किया गया है। जहाँ तक गैर-अपील

योग्य दण्डादेशों का संबंध है वर्तमान मामला हत्या और अन्य गंभीर मामलों का मामला है। ऐसे अपराध जो निस्संदेह सभी अपील योग्य हैं। इसलिए विनियमन की एकमात्र भेदभावपूर्ण विशेषता यह है कि रेगुलेशन संख्या x of 1359 F की धारा 7(2) में निहित किसी भी प्राधिकारी द्वारा किसी विशेष न्यायाधीकरण की कोई भी सजा सम्पुष्टि के अधीन नहीं होगी या प्रस्तुत नहीं की जाएगी। जो कि रेगुलेशन संख्या x of 1359 F की धारा 8 के तहत लागू किया गया है

दूसरे शब्दों में कि निजाम का मृत्युदंड की पुष्टि करने का अधिकार छीन लिया गया है। यह निर्विवाद रूप से अभियुक्त के लिए उपलब्ध एक मूल्यवान अधिकार है जिसे सत्र न्यायाधीश या उच्च न्यायालय जैसा भी मामला हो जिसके द्वारा मौत की सजा सुनाई जाती है। याचिकाकर्ता के वकील श्री पीरभॉय ने हमें बताया कि पिछले 50 वर्षों के दौरान हैदराबाद की अदालतों द्वारा पारित किसी भी मौत की सजा को कभी भी लागू नहीं किया गया है और निजाम ने हमेशा मृत्युदण्ड को कम करने और आजीवन कारावास की सजा के पक्ष में इस अधिकार का प्रयोग किया है।

विनियमन द्वारा इस अधिकार से इनकार भेदभावपूर्ण है और यह याचिकाकर्ता को एक मूल्यवान अधिकार से वंचित करता है। मैं स्वीकार करता हूँ हालाँकि कि रेगुलेशन की यह आपत्तिजनक विशेषता अन्य भागों से अलग किया जा सकता है। मैं आगे इस बात से सहमत हूं कि उस

अधिकार के प्रयोग का स्तर अभी तक नहीं उठा है क्योंकि याचिकाकर्ता की अपील अभी भी इस अदालत में लंबित है। यदि अपील की अनुमति दी जाती है या सजा कम कर दी जाती है तो निजाम द्वारा मौत की सजा की पुष्टि का कोई सवाल ही नहीं उठेगा। हालाँकि यदि अपील खारिज कर दी जाती है तो याचिकाकर्ता इस अधिकार का दावा करने के लिए स्वतंत्र रहेगा। इस स्तर पर यह राय व्यक्त करना वांछनीय नहीं होगा कि क्या यह अधिकार एक मूल अधिकार है जो याचिकाकर्ता में निहित है या केवल प्रक्रिया संबंधी मामले से संबंधित है क्योंकि उस प्रश्न पर विचार करना होगा और यह तय किया जाता है कि उचित स्तर कब आएगा।

इसलिए मैं याचिका को खारिज करने के लिए सहमत हूँ।

याचिका खारिज कर दी गई।

याचिकाकर्ता के लिए अभिकर्ता राजिंदर नारायण।

प्रतिवादी के लिए अभिकर्ता जी. एच. राजाध्यक्ष।

यह अनुवाद आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस टूल 'सुवास' की सहायता से अनुवादक न्यायिक अधिकारी श्री कमल कुमार(आर.जे.एस.) द्वारा किया गया है।

अस्वीकरण: यह निर्णय पक्षकार को उसकी भाषा में समझाने के सीमित उपयोग के लिए स्थानीय भाषा में अनुवादित किया गया है और किसी अन्य उद्देश्य के लिए इसका उपयोग नहीं किया जा सकता है। सभी व्यावहारिक और आधिकारिक उद्देश्यों के लिए, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रामाणिक होगा और निष्पादन और कार्यान्वयन के उद्देश्य से भी अंग्रेजी संस्करण ही मान्य होगा।